



International Journal of Applied Research

ISSN Print: 2394-7500
ISSN Online: 2394-5869
Impact Factor: 3.4
IJAR 2015; 1(6): 271-275
www.allresearchjournal.com
Received: 20-03-2015
Accepted: 28-04-2015

अमित वर्मा

पीएचडी, संस्कृत विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

शङ्कर कृत सांख्य मत खण्डन : एक समालोचना सांख्य के पक्ष में

अमित वर्मा

प्रबुद्ध दार्शनिक मनीषा द्वारा सांख्य पर किए गए बौद्धिक प्रहार इस तथ्य की उद्भावना करते हैं कि सुदीर्घ भारतीय दार्शनिक परम्परा में सांख्य सर्वोच्च आसन पर प्रतिष्ठित था। चतुर्थ से दसवीं सदी तक शास्त्रीय सांख्य के प्रतिपक्षियों की विस्तृत परम्परा सांख्य की महत्ता को प्रतिष्ठापित करती है। विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों ने अपने-अपने सिद्धान्तों को सुदृढ़ता प्रदान करने के लिए सांख्यीय दार्शनिक सिद्धान्तों पर आक्षेप प्रस्तुत किए हैं। न्याय वैशेषिक एवं मीमांसकों ने सांख्य दर्शन के सम्बन्ध व संयोग की अवधारणा तथा कार्य-कारण सिद्धान्त पर आक्षेप प्रस्तुत किया है। बौद्ध दार्शनिकों ने सांख्य की प्रकृति एवं गुण-परिणाम की अवधारणा तथा एक नित्य पुरुष की संकल्पना पर शंकाएं व्यक्त की हैं। योग दर्शन भी जो सांख्यीय तत्व मीमांसा एवं प्रमाण मीमांसा पर आधारित है। सांख्य द्वारा ईश्वर की अस्वीकृति को मान्य नहीं ठहराता है।

इस खण्डन परम्परा में आठवीं सदी में आविर्भूत केवलाद्वैत के प्रतिष्ठापक आचार्य शङ्कर सर्वोच्च आसन पर अधिष्ठित हैं। ब्रह्मसूत्र भाष्य में अन्य दार्शनिक सम्प्रदायों के सिद्धान्तों का भी खण्डन उपलब्ध है, लेकिन शङ्कराचार्य ने जिस विद्वता एवं तीक्ष्णता के साथ सांख्यीय सिद्धान्तों में विसंगतियाँ प्रदर्शित कर उनका खण्डन प्रस्तुत किया है, वह सांख्यीय सिद्धान्तों के पुनराकलन एवं व्यवस्थापन की दृष्टि से भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

शङ्कराचार्य परम्परा में एक विशिष्ट दार्शनिक दृष्टिकोण से सम्बद्ध हैं। फलतः स्वाभाविक रूप से शङ्कराचार्य द्वारा सांख्य पर प्रस्तुत आक्षेप सभी सम्भव आलोचनात्मक पक्षों को नहीं समेटता है। तब भी शंकर-आलोचना की व्यापकता कम से कम उन विषयों को उभारती है जो कि दर्शन की शास्त्रीय अवधि में विवादात्मक थे। ब्रह्मसूत्रभाष्य में यह तथ्य भी पाठकों के सम्मुख उभर कर आता है कि सांख्य सिद्धान्त के खण्डन हेतु तत्पर शङ्कराचार्य परम्परा में दूसरे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण दार्शनिक सम्प्रदाय के रूप में सांख्य की प्रतिष्ठा से सुपरिचित है। शङ्कराचार्य यह घोषणा करते हैं कि सांख्य के खण्डन के उपरांत अन्य दार्शनिक सम्प्रदायों का खण्डन आवश्यक नहीं है। शङ्कराचार्य ने सांख्य दर्शन को 'प्रधान मल्ल' अर्थात् प्रधान प्रतिपक्षी की संज्ञा दी है। एतदतिरिक्त शङ्कराचार्य ऐसे समय में (लगभग 780-812 ई.) लेखन में सचेष्ट हैं जबतक अधिकांश दार्शनिक विचार-सारणियाँ शास्त्रीय दृष्टि से सूत्रबद्ध हो चुकी थीं। अतएव शंकर द्वारा प्रस्तुत खण्डन को शास्त्रीय सांख्य की आलोचना के लिए आधारभूत माना जा सकता है।

ब्रह्मसूत्र में सांख्य का खण्डन आरम्भिक चार सूत्रों के बाद पाँचवें से बारहवें सूत्र में उपलब्ध होता है। इन सूत्रों में मुख्यतः इस तथ्य का प्रतिपादन है कि ब्रह्म एक चेतन सत्ता है और उसे सांख्य के अचेतन प्रधान जैसा नहीं समझा जाना चाहिए। उपर्युक्त सात सूत्रों के अतिरिक्त 'ब्रह्मसूत्र' के प्रथम अध्याय का सारा चतुर्थ पाद और दूसरे अध्याय के प्रथम तथा द्वितीय पाद के आरम्भिक भागों में सांख्य का खण्डन किया गया है।

शंकराचार्य का खण्डन सांख्य के विरुद्ध श्रुति, स्मृति एवं युक्ति तीनों स्तम्भों पर आधारित है। शंकराचार्य द्वारा प्रस्तुत आक्षेप को उनकी प्रकृति के अनुसार तीन वृहद् समूहों में वर्गीकृत किया जा सकता है - (क) सांख्यीय सिद्धान्तों का इस दृष्टि से खण्डन किया गया है कि वे मूलतः श्रुति विरोधी हैं। श्रुति में अर्थात् प्रमुख उपनिषदों के उद्धरणों को अपने मत की प्रमाण पुष्टि हेतु प्रस्तुत करना अनुपयुक्त है। सांख्य के द्वारा की गयी श्रुति की व्याख्या भ्रामक है। वेदान्तियों के द्वारा इस तत्त्व की स्थापना सर्वत्र की गयी है कि उनके द्वारा ही की गयी श्रुति की व्याख्या समीचीन है तथा श्रुति में मूलतः 'ब्रह्मकारणवाद' के रूप में वेदान्तिक विचारों का प्राधान्य है।¹

लेकिन सांख्य के मतानुसार इस अध्याय से स्पष्ट है कि श्रुति में प्रधानकारणवाद की भी स्थापना है। सांख्य दर्शन कहीं भी वेदों के प्रति कोई पूर्ण आस्था व्यक्त नहीं करता है।² अवैदिक सांख्य में अपने स्वतन्त्र उद्गम के समर्थन में उपलब्ध साहित्य में कहीं भी वेदों से उद्धरण नहीं लिया गया है।

(ख) वेदान्तियों के अनुसार सांख्य दर्शन स्मृति के आधार पर भी प्रामाणिकता का दावा नहीं कर

Correspondence:

अमित वर्मा

पीएचडी, संस्कृत विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

सकता।¹³ 'स्मृति' से सांख्य का अभिप्राय कपिल प्रणीत दर्शनतन्त्र से है। शंकराचार्य ने स्पष्ट रूप से कहा है कि ब्रह्मासूत्र प्रतिपादित ब्रह्मवाद को केवल इसलिए अस्वीकार नहीं किया जा सकता है कि यह कपिल की स्मृति से मेल नहीं खाता। क्योंकि सांख्य के प्रधानवाद की स्वीकार करने पर कुछ अन्य स्मृतियों से विरोध होगा। पुनः शंकर कपिल के अस्तित्व पर ही प्रश्न खड़ा करते हैं। शंकर की दृष्टि में श्रुति में जिसे महान ऋषि कपिल नाम से सम्बोधित किया गया है वह सांख्य प्रवर्तक ही है ऐसा मानने का कोई प्रामाणिक आधार नहीं है। अतः कपिल स्मृति कि उन पक्षों की ही स्वीकार किया जा सकता है जो श्रुति के विरोध में नहीं हो। लेकिन एक स्मृतिकार के रूप कपिल की सर्व प्राचीनता एवं लोक विश्रुत होना असंदिग्ध है। शङ्कराचार्य ने कपिल के प्रति उपेक्षाभाव प्रदर्शित कर दार्शनिक मस्तिष्क के स्वातन्त्र्यपूर्ण प्रवाह के प्रति भी उपेक्षाभाव प्रदर्शित किया है।

(ग) शङ्कराचार्य ने युक्ति प्रधान तार्किक दृष्टि से भी सांख्य का खण्डन प्रस्तुत किया है।¹⁴

शाङ्कर मत

सांख्य मतानुसार जिस प्रकार मृदभांड जार आदि मृदा रूपी सामान्य गुण साधारणतया धारण करते हैं जो कि उनका अचेतन उपादान कारण होता है, उसी प्रकार सभी आन्तरिक एवं बाह्यगत आनुभवित कार्य जो सुख दुःखमोहात्मक होते हैं उनका उपादान कारण भी साधारणतया कोई सुख दुःख मोहात्मक ही होता है और वह अन्तिम उपादान कारण अचेतन प्रधान है जो कि प्रीति अप्रीति एवं विषादात्मक होता है अर्थात् सुख दुःख मोहात्मक स्वरूप से युक्त है। लेकिन शङ्कराचार्य के अनुसार यह मतव्य अनुभव विरुद्ध है। अर्थात् हमारा साधारण अनुभव इस तथ्य को नहीं दर्शाता है। हम जगत् में पलंग, प्रासाद, घर आदि के अस्तित्व का दर्शन करते हैं एवं हम यह भी जानते हैं कि उन लोगों के द्वारा बनाए जाते हैं जो चेतनापूरित हैं। पुनश्च, यह सम्पूर्ण निष्प्राण एवं प्राणवान् दृश्य जगत् जिसकी सबसे चतुर शिल्पी कल्पना भी नहीं कर सकता है, जिसका निर्माण एक अचेतन अप्रधान के द्वारा कैसे हो सकता है। जैसे मृदा से भांड निर्माण के लिए कुम्हार की आवश्यकता होती है वैसे ही प्रधान को चेतनाधिष्ठित होना पत्थर आदि पार्थिव वस्तुएँ ऐसी शक्ति से समन्वित नहीं होते हैं।

सांख्य पक्ष

सांख्य अभिमत प्रधान की आलोचना करते हुए शङ्कर ने सांख्य की एक आधारभूत विशेषता की उपेक्षा की है या सम्यक्तया व्याख्यायित नहीं किया है। शंकर के अनुसार सांख्य मत सामान्य अनुभव के विरोध में क्योंकि हम आम अनुभव में यह पाते हैं कि घर शय्या आदि चेतननिविष्ट लोगों के द्वारा बनाए जाते हैं। इस चित्र-विचित्र जगत् की रचना का श्रेय चेतन को ही जाता है। किसी पत्थर सदृश अचेतन आदि को नहीं।

उपर्युक्त मतों को अभिव्यक्त करते हुए शंकर सुविधानुसार इस तथ्य को नजरंदाज कर देते हैं कि सांख्य प्रधान को पत्थर सदृश या मृण निर्मित नहीं मानता है। सांख्य शय्या, प्रासाद आदि का उदाहरण इस तथ्य के प्रतिपादन के लिए प्रस्तुत करता है कि इस व्यावहारिक जगत् के कार्यों का एक अनादि उपादान कारण होना चाहिए, और वह अन्तिम उपादान कारण पत्थर या मृदभांड नहीं हो सकता अनादि उपादान कारण सत्त्व एवं तमस से बना है अर्थात् जड़ता के साथ, चिन्तन, एवं विचार एवं क्रियाशीलता से संयुक्त है।¹⁵

यह अनादि उपादान कारण बुद्धि, अहंकार एवं मनस तत्त्व के साथ सभी सूक्ष्म एवं महाभूतों को धारण करता है। सांख्य मानस व शरीर का द्वैत नहीं है और न ही विषम एवं विषमी का द्वैत है। बुद्धि, अहंकार एवं महाभूत सभी प्रधान के ही कार्य एवं रूपान्तरण हैं। अतः शंकर जब गृहादि निर्माण के लिए कर्मकार का उदाहरण देते हैं तो यह सांख्य को स्वीकार ही है। साथ ही सांख्य को इस

तथ्य सभी आपत्ति नहीं है कि यह जटिल एवं चित्र-विचित्र जागतिक रचना एक शक्तिशाली निमित्त कारण की अपेक्षा रखता है। कर्मकार एवं सर्वशक्तिशाली निमित्त कारण प्रधान के ही वैसे ही भाग हैं जैसे कि मृदभांड, गृहादि। प्रधान की यह अवधारणा कदाचित् क्षयोन्मुख भौतिकवाद की कारणात्मक व्यवस्था से अपनी सादृश्य प्रदर्शित करती है, जिसके अन्तर्गत मनसतत्त्व, विचार, भावनात्मक अनुभूति आदि का एक प्रकार के भौतिक स्तर पर अन्तःक्रिया करते हैं एवं गतिमान रहते हैं। सांख्य इस मत को भी उपस्थापित करता है कि प्रधान की यह कारणात्मक व्यवस्था जो मानसिक एवं भौतिक दोनों को धारण करता है, पुरुष चौतन्य के साथ किसी भी रूप में सम्बद्ध नहीं है।¹⁶ दूसरे शब्दों में, चैतन्य को अन्तःकरणवृत्ति व चित्त-वृत्ति से विविक्त करना है। अतएव सांख्य, चैतन्य संयुक्त कर्मकार के स्थान पर 'चित्त-वृत्ति संचालित कर्मकार' अर्थात् बुद्धि अथवा अध्यवसाय, अहंकार एवं मनस तत्त्व से संयुक्त कर्मकार की प्रतिष्ठा करता है।

अन्तःकरणवृत्ति या चित्त-वृत्ति प्रधान के बौद्धिक भावप्रधान प्रतिफल है। चौतन्य मध्यस्थ अर्थात् उदासीन साक्षी है, एक अपारदर्शी माध्यम जिसके अन्तर्गत एवं जिसके लिए प्रधान क्रियाशील होता है। चौतन्य एक अपारदर्शी साक्षी के रूप में विषय के बिना क्रिया उन्मुख नहीं हो सकता है अर्थात् एक निमित्त एवं उपादान कारण के रूप में इसमें क्रियाशीलता नहीं आ सकती। चित्तवृत्ति प्रकृति एवं विकृति दोनों हैं, चेतन तत्त्व न हो प्रकृति है और न विकृति है।¹⁷

शाङ्कर मत

शंकर के मतानुसार सृष्टि की अविस्थिति को सिद्ध करने वाले हेतु रूप गुणों की उपस्थिति सांदिग्ध है क्योंकि सुख दुःख की अनुभूति आन्तरिक है जबकि विषय बाह्य है। यह कहना उपयुक्त होगा कि बाह्य पदार्थ कही सुख की सर्जना करते हैं तो कहीं दुःख की।

पुनः एक सामान्य सत्त्व, रज एवं तम को मूल उपादान कारण के रूप में उपस्थित करना एक अन्य मूल उपादान कारण की उपेक्षा करता है क्योंकि गुण एक दूसरे का उपमर्दन करते हैं अथवा एक दूसरे को सीमित करते हैं अतएव कभी मूल कारण नहीं हो सकते हैं।

सांख्य पक्ष

सांख्य के अनुसार बाह्य एवं आन्तरिक, द्रव्य तथा गुण, उपादान एवं निमित्त कारण, विषय एवं विषयी, के मध्य पार्थक्य प्रधान की कारणात्मक अवस्था की ही अभिव्यक्ति है अथवा परिणाम है। गुण से नैयायिकों द्वारा प्रतिपादित 'गुण' अथवा 'विशेषण' यह अभिप्राय नहीं है जो कि द्रव्य को इसके गुणों अथवा विशेषण से पृथक् करते हैं। सांख्यीय मत में गुण प्रधान के घटक तत्त्व हैं, स्वरूपवद् ही हैं। कारणता का सिद्धान्त सतत् परिवर्तनशील एवं रचनात्मक-प्रकटीकरण की ऊर्जा व्यवस्था है जिसके अन्तर्गत समस्त आन्तरिक एवं बाह्य, सूक्ष्म एवं स्थूल सभी एक साथ द्वन्द्वात्मक परिणतभाव से कार्य करते हैं।

शाङ्कर मत

शंकराचार्य पुनः यह कहते हैं कि सांख्य मतानुसार त्रिविध गुण अपनी मूल कारणता की स्थिति में साम्यावस्था में विद्यमान होते हैं। कार्यात्पादन के लिए उन्हें इस साम्यावस्था से बाहर निकालना होगा लेकिन एक अचेतन प्रधान तो इस साम्यावस्था में विद्यमान है स्वयं इस अवस्था से गतिमान नहीं हो सकता। एक चेतन निमित्त कारण या मूलतत्त्व प्रवृत्त्योन्मुख करने के लिए आवश्यक है, लेकिन सांख्यीय पुरुष अकर्ता है अतएव कार्यों की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। इस दृष्टि से प्रधान स्वयं कैसे परिणत हो सकता है? यदि यह स्वयं परिणत भी हो जाता है तब यह स्वयं बाद में परिणत होने से कैसे रोक सकता है?

सांख्य पक्ष

साम्यावस्था में गुणों की अवस्थिति एवं व्यक्तावस्था में इनका परिणत होना सांख्य में काल की अवधारणा एवं इसकी व्याख्या से सम्बद्ध है। क्या सांख्य इस विकास-प्रक्रिया को एक कालिक प्रक्रिया मानता है जो परिमेय काल के अन्तर्गत घटित होता है। उपर्युक्त मंतव्य से यह स्पष्ट होता है कि सांख्य के अनुसार परिमेय देश एवं काल संयोग एवं विकार की अनादि प्रक्रिया के व्युत्पन्न सहसम्बद्ध हैं अर्थात् प्राकृतिक तत्त्व ही है। इसके अतिरिक्त सांख्यकारिका में यह प्रतिपादित है कि पुरुष अनादि एवं सर्वव्यापक है। अतएव काल की ऐसी अवस्थिति नहीं हो सकती जब पुरुष प्रधान के सान्निध्य में नहीं होता और इसलिए ऐसा मानना उचित है कि सांख्य परिमेय काल के अर्थ में कालिक विकास-प्रक्रिया का प्रतिपादन नहीं कर रहा है। दूसरे शब्दों में परिमेय काल से अलग संयोग एवं विकार की प्रक्रिया का न तो आरम्भ होता है और न अन्त। आरम्भ एवं अन्त सापेक्षिक हैं जो कि अविवेकजन्य आविर्भाव के संयोग एवं विकार के अन्तर्गत हैं। जब बुद्धि स्वयं से पुरुष को विविकृत करती है तब यह उस यथार्थ स्वरूप का साक्षात्कार करती है जो सर्वदा यथार्थ है तथा जो सर्वदा इसी प्रकार यथार्थ रहेगा। अर्थात् एक अनादि एवं अनंत संयोग एवं विकार की प्रक्रिया है जिसके लिए द्रष्टा की नाई पुरुष विराजमान है लेकिन उसके द्वारा इसके स्वरूप में विकार नहीं आता है। दूसरे शब्दों में बुद्धि इस पार्थक्य को या चौतन्य के स्वातन्त्र्य अथवा कैवल्य को समझता है। साथ ही गुणपरिणाम की साम्यावस्था का भी, क्योंकि अविवेक की अनुपस्थिति में गुणपरिणाम तत्त्वविकार के रूप में विचार्य नहीं है।

शाङ्कर मत

शाङ्कराचार्य के शब्दों में प्रधान पुरुष के उद्देश्य की सिद्धि अर्थात् भोगापवर्ग रूप पुरुषार्थ सिद्धि के निमित्त प्रवृत्त होता है। लेकिन शाङ्कराचार्य के अनुसार एक अचेतन की प्रवृत्ति सोद्देश्य कैसे हो सकती है। यदि अचेतन दूध की एक बछड़े के लिए प्रवृत्ति होती है तो यहाँ यह उल्लेख्य है कि अचेतन दूध एक चेतन पशु (गाय) में ही निविष्ट रहता है। पुनः, यदि प्रधान पुरुष के लिए भोग की सिद्धि करता है तो यह स्वतः सांख्य प्रतिपादित सिद्धान्त के विरोध में है क्योंकि पुरुष सुख-दुःख की अनुभूति के प्रति सर्वथा उदासीन है। यदि प्रधान पुरुष के अपवर्ग हेतु प्रवृत्तमान है तो यह उद्देश्य निरर्थक है। क्योंकि सांख्य के अनुसार पुरुष सर्वदा से उन्मुक्त ही है, गुणों के विकारभाव से भी पहले से ही निरपेक्ष एवं स्वतन्त्र है। यदि यह कहा जाए कि पुरुष एवं प्रकृति स्वभाववद् चलायमान हैं तब दृश्यमान जगत् का कभी अवसान नहीं होगा। दूसरे शब्दों में दोनों मूल तत्त्व किसी तृतीय सत्ता की अनुपस्थिति में निर्बाध रूप से स्व-स्वभावानुसार अनन्त रूप से क्रियाशील रहेंगे।

सांख्य मत

प्रवृत्ति एवं उद्देश्य से सम्बन्धित आक्षेप बहुत निश्चयात्मक ढंग से अचेतन प्रधान की कारणता को खण्डित नहीं करते हैं। केवल तर्क के आधार पर यह सिद्ध नहीं किया जा सकता है कि अचेतन वस्तुओं में रचना हेतु प्रवृत्ति विद्यमान नहीं हो सकती है। यह निर्धारित करना बहुत कठिन है कि रचना प्रधान में निहित है या मनस तत्त्व द्वारा योजित है। एक क्रमबद्ध व्यवस्था अचेतन तत्त्वों में भी परिलक्षित होती है। सांख्य प्रधान को स्वभावतः सक्रिय मानता है। वस्तुतः सांख्य सभी भौतिक पदार्थों में सक्रियता एवं रूपान्तरण की प्रक्रिया को स्वीकार करने वाला सर्वप्रथम दार्शनिक सम्प्रदाय है।

उद्देश्य की अनुपस्थिति से सम्बन्धित आक्षेप भारतीय दर्शन के सभी सम्प्रदायों के लिए उपयुक्त है। सृष्टि प्रक्रिया के विषय में सोद्देश्यता की व्याख्या किसी भी सम्प्रदाय में सन्तोषप्रद नहीं है। वेदान्त में ब्रह्म कूटस्थ निर्विकार है, अतएव वैश्विक दुष्क्रम के

साथ सम्बद्ध होने की कोई आवश्यकता नहीं है। ब्रह्म सृष्टि के लिए इच्छा कैसे व्यक्त कर सकता है। यदि विश्व को ब्रह्म की लीला मान सकते हैं तो इसे प्रधान की स्वाभाविक प्रवृत्ति मानने में क्या आपत्ति हो सकती है। यदि सृष्टि-प्रक्रिया अनादि सर्वमान्य है तो सांख्य के द्वारा भी इसी मत के प्रतिपादन पर आशंका क्यों?

युक्तिदीपिका रूपान्तरण के सिद्धान्त को इस आधार पर उपयुक्त बताता है कि विश्व के एक चेतन निमित्त कारण की सत्ता सर्वथा प्रतिष्ठित नहीं है। दूध के सादृश्य के विषय में इसका यह मानना है कि वेदान्तिकों का यह तर्क कि दूध की सक्रियता ईश्वर के द्वारा प्रेरित नियन्त्रित है, भ्रामक है। क्योंकि ईश्वर स्वयं किसी क्रियाशीलता से विहीन है, अतएव दूध में प्रवृत्ति उत्पन्न नहीं कर सकता। इस प्रकार चेतन कारण नहीं है। दूध में प्रवृत्ति का एकमात्र कारण बछड़े का पोषण है।

वाचस्पति मिश्र के अनुसार भी ईश्वर के रूप में एक चेतन निमित्त कारण की उपस्थिति सृष्टि के आरम्भ को तार्किक ढंग से व्याख्यायित नहीं कर सकता है। चेतन तत्त्व में प्रवृत्ति स्वार्थ या परार्थ के लिए होती है। लेकिन ईश्वर पूर्णकाम है अतएव उसमें सृष्ट्यर्थ कोई स्वार्थ नहीं हो सकता। ईश्वर परार्थ अथवा दयाभाव से भी सृष्टि में प्रवृत्त नहीं होता है। क्योंकि दयाभाव से प्रेरित ईश्वर द्वारा रचित यह सृष्टि सर्वथा सुखप्रद होती है, लेकिन सर्वत्र कष्ट एवं दुरुख के दर्शन होते हैं। यदि दुरुख पूर्वजन्मों के वासनाजन्य फल है तो सृष्टि के नियन्त्रा के रूप में एक चौतन्य की अभिधारणा की क्या आवश्यकता है।¹⁸

शाङ्कराचार्य ने 'पुरुषार्थ' की अवधारणा पर आक्षेप प्रस्तुत किया है, लेकिन यहाँ इस तथ्य का प्रकाशन आवश्यक है कि महत्वपूर्ण क्या है। पुरुष विषयविहीन चौतन्य के रूप में किसी साधारण उद्देश्य को पहले ही प्रतिवारित करता है। विषयविहीन चौतन्य अर्थात् पुरुष इस रूप में परिलक्षित होता है जो वह नहीं है, लेकिन इसकी विषयविहीनता उन तत्त्वों के आमने-सामने प्रदर्शित होती है जो यह नहीं है, नाम्रा विकासोन्मुख प्रकृति के व्यक्त तत्त्व के समक्ष। प्रधान इस रूप में प्रकट होती है मानो वे चेतन हों। सामान्य अन्तःकरणवृत्ति चौतन्य प्रतीत होती है तथा अन्तःकरणवृत्ति तथा चौतन्य में पार्थक्य नहीं कर पाने के कारण, जो अविवेकजन्य है, सुख दुरुख एवं बन्धन उत्पन्न होते हैं। विषयविहीन चौतन्य स्वतः उस रूप में प्रकट होता है जो वह नहीं फलतः बुद्धि में दुरुख स्वरूप प्रतिबिम्बित होता है, अतएव बुद्धि व्यक्त अनुभवों की परिधि में उसका पार्थक्य एवं प्रभेद स्थापित करने के लिए क्रियाशील होती है, जो यह नहीं है। बुद्धि के कार्यों में जो कि भावों के कारण होते हैं 'सम्यक दर्शन' अथवा 'विवेक ख्याति' की दृष्टि से इसका ज्ञान की ओर मूलभाव है। इस प्रकार शास्त्रीय सांख्य में दुःखारूढ़ होने की प्रवृत्ति पार्थक्य ज्ञान की ओर उन्मुखता दोनों साथ-साथ दिखती है।

क्रियाशीलता के सन्दर्भ में यह उल्लेख्य है कि विषयविहीन चौतन्य के रूप में पुरुष किसी रूप में क्रिया-सम्पादन में संलग्न नहीं होता है। इसे अपने निर्लिप्त यथार्थ स्वरूप में ही अवस्थित रहना है। दूसरी ओर बुद्धि जो कि प्रधान का प्रथम कार्य है एवं जिसमें चौतन्य इस रूप में प्रतिबिम्बित होता है जो इसका यथार्थ स्वरूप नहीं है, को इस प्रकार प्रवृत्त्योन्मुख होना है जिसके द्वारा यह स्वयं को उससे विविकृत कर सके जो यह यथार्थतः नहीं है। इस प्रकार सभी स्तरों पर ज्ञान अथवा विवेक ख्याति की उपलब्धि हो सके जो अन्ततः मुक्ति अथवा कैवल्य को सुनिश्चित को।

उपर्युक्त आधार पर अन्ततः कहा जा सकता है कि व्यक्त प्रधान अर्थात् बुद्धि तत्त्व पुरुष के सम्मुख उपभोग एवं अपवर्ग की व्यवस्था करता है। पुरुष स्वयं निर्लिप्त एवं निर्विकार भाव से विराजमान है जो स्वयं सर्वथा अकर्ता है।

शाङ्कर मत

शाङ्कराचार्य का अन्तिम आक्षेप सर्वाधिक महत्वपूर्ण है, जो न केवल सांख्य दर्शन में वरन् भारतीय दर्शन के अन्य सम्प्रदायों में

भी अत्यन्त उलझा हुआ प्रश्न रहा है। यह पेचीदा प्रश्न है 'सम्बन्ध विषयक' (चतवइसमउ वतितमसंजपवद)।

सांख्य में चैतन्य तत्त्व के रूप में पुरुष की स्थापना की गई है। यह तत्त्व न तो (बुद्धि, अहंकार और मनस की भाँति) व्यक्तिनिष्ठ है और न ही विषयनिष्ठ है तथापि यह तत्त्व दोनों के प्रकटन के लिए उत्तरदायी है। यह तत्त्व न तो चिन्तन कर सकता है न अनुभव कर सकता है, और न ही किसी कार्य का सम्पादन कर सकता है, तथापि इसकी उपस्थिति की प्रतीति सर्वदा होती है जब कभी बोध, अनुभव अथवा रूपान्तरण घटित होता है। इस तत्त्व की व्याख्या में सांख्य ने साक्षी, द्रष्टा, निर्लिप्त, अकर्ता, उदासीन आदि पदों का प्रयोग किया है। यह तत्त्व प्रकृति से सर्वथा विलग एक विषयविहीन पारदर्शक माध्यम है जिसके माध्यम से और जिसके निमित्त प्रकृति स्वयं को दृश्य बनाती है।

यद्यपि स्पष्ट है कि शास्त्रीय सांख्य परम्परा प्रकृति के सन्दर्भ में यथा, पूर्ण एवं अंश के मध्य सम्बन्ध, अथवा कार्य कारण सम्बन्ध के प्रश्न को सम्यकतया प्रतिपादित करती है लेकिन यह पुरुष एवं प्रकृति के मध्य सम्बन्ध के प्रश्न को किस प्रकार रूपायित करती है यह उतना स्पष्ट नहीं है। इन दोनों के मध्य तादात्म्य सम्बन्ध नहीं हो सकता क्योंकि उस स्थिति में दोनों में अभिन्नता स्थापित हो जाएगी जो इष्ट नहीं है। इन दोनों के मध्य समवाय सम्बन्ध नहीं हो सकता क्योंकि सांख्य प्रकृति के सन्दर्भ में भी द्रव्य, गुण आदि वर्गों में वास्तविक अन्तर स्वीकार नहीं करता।

सांख्य पक्ष

सांख्य विचारक इस दावे को प्रस्तुत करते हैं कि साक्षित्व से व्यतिरिक्त पुरुष एवं प्रकृति में कोई सम्बन्ध नहीं है। चैतन्य या पुरुष पारदर्शक साक्षी हैं जिसके माध्यम से प्रकृति क्रियाशील होती है। अतएव चैतन्य न तो प्रवृत्त किया जा सकता है, न तो स्वयं क्रियाशील होता है। यह न तो बन्धनग्रस्त होता है और न मुक्त होता है। जब तब वह विविक्त नहीं होता है यह उस रूप में प्रतीत होता है जो इसका स्वरूप नहीं हो, लेकिन यह प्रतीति भी इसकी विषयविहीनता का ही प्रकटीकरण है एवं बुद्धि के स्तर पर प्रकाशित होना है। इस प्रकार, पुरुष जिस रूप में प्रभावित करता है, वह निरा उसकी उपस्थिति का निष्क्रिय प्रभाव है। पुनः जब इसे विषयविहीन चैतन्य के रूप में विविक्त किया जाता है, विविक्तकरण बुद्धि के द्वारा सम्पादित होता है। पंगु एवं अंधे व्यक्ति का या चुम्बक का दृष्टान्त इस तथ्य मात्र को उद्भावित करने के लिए दिया गया है कि जब दो पृथक् सत्ता एक दूसरे के साथ अन्वित होते हैं तब वे एक सामान्य फल तक पहुँच सकते हैं। दृष्टान्त दोनों सत्ताओं की अन्तर्वस्तु अथवा स्वरूप के द्योतन के लिए प्रस्तुत नहीं किया गया है जैसा कि शंकराचार्य के द्वारा प्रस्तुत आक्षेप संकेतित करते हैं।

पुनः यह कहना कि पुरुष मात्र की सर्वदा उपस्थिति प्रकृति के साथ रूपान्तरण की अनादि प्रक्रिया को जन्म देगी और इसलिए मोक्ष की सम्भावना का पूर्वबाध करेगी या विलोमतः बन्धनग्रस्त करेगी लेकिन यह सांख्य का अभिमत नहीं है। यह आक्षेप उसी स्थिति में समीचीन होगा जब मोक्ष एवं बन्धन तात्त्विक समस्याएँ हो क्योंकि वस्तुस्थिति वास्तव में यह है कि सांख्यानुसार पुरुष, एक सर्वव्यापक चैतन्य साक्षी के रूप में, सर्वदा प्रकृति के सान्निध्य में उपस्थित रहता है। पुरुष की उपस्थिति न तो मोक्ष और न बन्धन को जन्म देती है। पुरुष सर्वदा स्वतन्त्र है और तत्त्वमीमांसीय दृष्ट्या कदापि बन्धनग्रस्त नहीं हो सकता। बन्धन एवं मोक्ष की समस्याएँ अन्तःकरणवृत्ति अथवा बुद्धि के स्तर पर होती हैं तथा बुद्धि के द्वारा अविवेक एवं विवेकवश घटित होती हैं।

शाङ्कर मत

सांख्य का सम्प्रति उपलब्ध कोई भी ग्रन्थ सात इन्द्रियों का उल्लेख नहीं करता। अतः शङ्कराचार्य या कालान्तर में अन्य अनुगामी अद्वैत वादियों के द्वारा सांख्य पर प्रस्तुत इस आक्षेप के

आधारभूत सूत्र व ग्रन्थ का नामोल्लेख नहीं किया गया है।

सांख्य पक्ष

लेकिन इन्द्रियों की संख्या के विषय में सांख्य का प्रतिनिधि ग्रन्थ 'सांख्यकारिका' ग्यारह इन्द्रियों का ही उल्लेखन करता है। सांख्य की किसी उपलब्ध ग्रन्थ में सात इन्द्रियों का चर्चा नहीं है।

यहां यह उल्लेख्य है कि सूत्रकार या शङ्कर के द्वारा अपनी स्थापना के लिए सांख्य का कोई वचन उद्धृत नहीं किया गया है। अतएव यह माना जा सकता है कि शंकर द्वारा प्रत्याख्यान हेतु प्रस्तुत पूर्वपक्ष सर्वथा कल्पना की उपज है। आचार्य शङ्कर ने प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या में जिस प्रकार सांख्य का प्रत्याख्यान किया है उससे यह भी ध्वनित होता है कि कदाचित् शङ्कराचार्य के द्वारा प्रयुक्त बहुत सारे सांख्यीय स्रोत ग्रन्थों में सांख्यकारिका एक हैं।

निर्विवादतः शङ्कराचार्य द्वारा प्रस्तुत आक्षेप इस तथ्य के प्रति प्रबल आग्रह दर्शाते हैं कि भारतीय चिन्तन परम्परा में आदर्शवादी अद्वय चिन्तन पद्धति द्वारा यथार्थवादी व द्वैत चिन्तन पद्धति के प्रभाव को क्षीणतर के प्रयास अत्यन्त समर्थ रहे हैं। शङ्कराचार्य के पूर्व एवम् पश्चात् में प्रवाहित चिन्तन धारा को अद्वैत के ईश्वरवादी एवम् आत्मवादी सांचे में ढालने के प्रयास प्रबल रहे हैं। लेकिन इसके बावजूद सांख्य ने अद्यावधि अपनी सत्ता को अक्षुण्ण रखा है। सांख्य दर्शन में उपस्थापित प्रकृति की अवधारणा अत्यन्त व्यापक है जो इस अनुभूयमान जगत के प्रश्नों को सुलझाने की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। सांख्य कदाचित् उस दार्शनिक चिन्तन पद्धति का प्रतिनिधि है जिसे हम पारलौकिक भैतिकवाद की संज्ञा से अभिहित कर सकते हैं।

संदर्भ-सूची

1. ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम्, 1.1.5-11 एवं 1.4.20-28
2. सांख्यकारिका, कारिका-02
"दृष्टवदानुश्रविकः सह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः।
तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्।।"
3. ब्र०सू०शां०भा०, 2.1.1
4. ब्र०सू०शां०भा०, 2.2.1-10
"रचनानुपत्तेश्च नानुमानम्.....विप्रतिषेधाच्चासमञ्जसम्"
5. (a) This spontaneous activity of the Prakriti can be considered as instinctive. In modern Psychology also the activity due to instinct is an important topic, intelligence in Samkhya can be considered as a modified form of instinct. Animals do various activities to make their children grow, etc. due to instinct. The term instinct is applied only to denote tendencies of living beings only. But in Samkhya, the unconscious teleology is in Prakriti which is not conscious. Mahat or Buddhi is the first product of the Prakriti. It has nothing to do with consciousness. Intelligence is a characteristic of Prakrit while consciousness is the nature of Purusa. But in the Phenomenal field it seems that they are co-mingled. The unconscious teleology is only an explanation for this comingling of consciousness and intelligence. Dr. K.P. Kesavan, Nampoothiri, The Concept of Apvarga in Samkhya Philosophy, p. 187
(b) "The polarity of contentless consciousness and materiality is characterized by the tension inherent in opposites. The Encyclopedia of Religion, Vol. 13, p. 79
6. सां०का०, 63
"रूपैः सप्रभिरैव तुबध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृतिः"
7. सां०का०, 62
"तस्मान् बध्यतेऽसौ न मुच्यते नापि संसरति कश्चित्।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रयाः प्रकृतिः।।"
8. (a) "What place however in a system which maintains

such views is to be found for the soul? Strangely enough formal scholars who make exhaustive investigation into Sankhya system did not succeed in answering this question. They regard the soul in this system as entirely superfluous and hold that its founder would have shown himself more logical if he had all together eliminated it'. Encyclopedia of Religion and Ethics. Vol. 11, p. 191

(b) डॉ. उमेश मिश्र, भा.द., पृ. 221

(c) डी.पी. चट्टोपाध्याय, लोकायत, अध्याय-6, पृ. 313